ज़िन्दगी का सिस्टम

लेखक : आयतुल्लाहिल उज़मा सय्यदुल उलमा मौलाना सै0 अली नक़ी नक़वी
सम्पादन : नूरे हिदायत फ़ाउण्डेशन

(क़िस्त : 23)

रमज़ान महीने का चाँद

मौसम का बदलना सूरज के लेहाज़ से होता है और इससे कुदरती (प्राकृतिक) बातों में फ़र्क़ पैदा होता है। नुजूमी (ज्योतिषि) लोग सितारों को दुनियां पर असर डालने वाले समझते हैं और वाक़ियों/घटनाओं का ताल्लुक़ इससे बताते हैं। इस्लाम मे न तो सूरज का लिहाज़ किया और न सितारों का। क्यों कि दोनों बातें अलग सी हैं। जो हिसाब जानते हैं वह समझें। उसनें चांद का ऐतबार किया है जिसकी बात महसूस की जा सकती है। अगर एक महीने में धोखा भी हो जाये तो दूसरे महीने में इसका सही होना पता चल जाएगा । आलिम से आलिम और जाहिल से जाहिल दोनों चाँद को अपनी आँख से देखकर महीने की शुरूआत और आख़िर का पता लगा सकते हैं। रमज़ान महीने को रोज़ों का ज़माना बनाया गया है। इसका भी ताल्लुक़ चाँद से है, जब चाँद हो गया तो रोज़ा वाजिब और फिर जब चाँद हो गया तो रोज़ों की मीआ़द (अवधि/Term) ख़त्म। इसकी जानकारी का अस्ली ज़रिया (देख लेना) (Observation) ही है। लेकिन अकसर ऐसा होता है कि इन्सान कुछ कामों में लगा हुआ है, इसलिये चाँद का पता लगाने के लिए उसे अपनी आँखों से देखने न जा सका। या आसमान में बादल छाये हुए हैं इसलिये चाँद हुआ और दिखाई न दिया। तो इसके लिये कुछ और ज़रिये भी रखे गये हैं। इसलिए दूसरा ज़रिया दो आ़दिल लोगों की गवाही। आ़दिल यानी जिसे अपने फ़र्ज़ कर्तव्य की पहचान और जिसकी परहेज़गारी (संयम) पर इत्मीनान हो। शर्त यह है कि इनकी बात के ख़ेलाफ़ कोई भरोसा न हो। यह जमीर (अन्तः करण) से ताल्लुक़ रखने वाली बात है। कभी ऐसा होता है कि बिल्कुल साफ़ बड़े–बड़े तेज़ नज़र वाले जवान आदमी चाँद को देखने की कोशिश कर रहे हैं, खुद आपकी भी नज़र अच्छी ख़ासी तेज़ है और आपने भी खुद पूरी कोशिश से देर तक ढूढ़ा और चाँद दिखाई नहीं दिया और न शहर भर में किसी ने देखा। बस दो बुजुर्ग धुँधली निगाह वाले इन्सान गवाही देते हैं कि हमने चाँद देखा।

ये हैं तो मुत्तक़ी और परहेज़गार, यक़ीन है कि झूठ नहीं बोलेगें, मगर दिल कहता हे कि उन्हें धोखा हुआ है। चाँद हरगिज़ नहीं हुआ है। वरना आख़िर कोई और भी तो देखता। इस सूरत में मुझे अपने ज़मीर और इत्मीमाम के ख़ेलाफ़ इन दो आ़दिलों की गवाही मानने की ज़रूरत नहीं है।

(तीसरे)मुजतहिद का हुक्म है कि चाँद हो गया। शर्त ये है कि आपको इत्मेनाम हो कि मुजतहिद के पास चाँद का ऐसा सुबूत पहुँच गया है जो खुद हमें भी अगर पहुँचता तो हमें इस पर चलाना ज़रूरी (वाजिब) होता।

(चौथे) ये कि इस तरह चाँद हो जाना कि सबकी ज़बान पर हो कि चाँद हो गया जिससे इन्सान को यक़ीन पैदा हो जाए या ऐसा इत्मीनान जिसके ख़ेलाफ़ अ़क्ली तौर पर शक करना सही न हो।

(पाँचवे) ये कि शाबान महीने के तीस दिन पूरे हो जायें। और ऐसे ही ज़रिऐ से शव्वाल (ईद का महीना) का चाँद भी साबित होगा जिसका नतीजा ये है कि रोज़ा रखना (ईद के दिन) इन्सान के लिये हराम हो जाए।

पहले के उलेमा और हदीसों पर रिसर्च करने वालों में एक बड़ी बहस चली थी कि माह रमज़ान तीस दिन से कम हो सकता है या नहीं। इस पर बड़े–बड़े रिसाले (रिसर्च की किताब/शोध–पत्र) लिखे गये। बात ये है कि कुछ हदीसें इसी तरह की आ गई है कि रमज़ान का महीना 30 दिन से कम नहीं होता। सूझबूझ वाले तहक़ीक़ (Research) करने वाले कहते हैं कि इसके मानी ये हैं कि सबाव माहे रमज़ान का बहरहाल पूरा

मिलेगा, चाहे चाँद 29 का ही क्यों न हो। यही खुदा के इन्साफ़ का तक़ाज़ा भी है, क्योंकि चाँद का 29 का हो जाना इन्सान के बस से बाहर है और हुक्म मानने बन्दे की नीयत ये है कि वह तीस (30) का भी महिना हो तो सब रोज़े रखेगा इसलिये कोई वजह नहीं कि 29 का चाँद होने से इसके सबाव में कमी कर दी जाए।

नीयत

दूसरे और तीसरे अध्याय में, नमाज़ और रोज़े के बारे में, इबादती वाजिब बातों की हक़ीक़त और नीयत के फ़लसफ़े पर काफ़ी ज़िक्र किया जा चुका है। रोज़ा भी इनमें से है जिससे रोज़े का सही होना नीयत पर निर्भर है। और बग़ैर नीयत रोजा सही नहीं हो सकता मगर बहस इस बात में पड़ गई है कि रमज़ान के पूरे महीने के रोज़ों के लिये एक नीयत काफ़ी है या हर रोज़े की नीयत अलग अलग होना चाहिये। इस बहस के फ़ैसले के लिये हमें कुछ शुरूआती चीज़ों को बयान करने की ज़रूरत है। जिन पर इसका दारोमदार है।

1. यह कि नीयत (मन से बना लेना) अक़ली चीज़ है। जो भी कर्म/काम ऐसा होगा कि इसका मक़सद किसी बाहरी फ़ायदे के तौर पर न रखा गया हो। इसे हाकिम के हुक्म (Order is order) की तरह से ही करना चाहिये। इसी तरह अगर मालूम हो जाये कि इस हुक्म का मक़सद फ़र्ज़ कत्तर्व्य का समझ पेश करना है तो भी अक़ल से इस काम को इरादे और फ़र्ज़ के एहसास के साथ पूरा करना चाहिए। इसी का नाम नीयत है, इसलिये नियत के बारे में अक़्ल का फैसला मानने के लायक़ है और किसी दलील के बयान की ज़रूरत नहीं है।

2. नियत इरादे (संकल्प) की एक ख़ास सूरत है और वह चीज़ है जो काम के लिये प्रेरित करती है। इसलिये इरादे की बात नियत से अलग नहीं होती है। जो अ़मल से जुड़ा हुआ हो लेकिन अगर काम से अलग है तो वह उकसा नहीं सकती। इसलिए वह चीज़ जो काम के वक़्त आने से पहले इन्सान में पाई जाती है इसे इरादा कहना आम बोलचाल में है। जिसका सच्चाई से लगाव नहीं है। वह इरादे के शुरूआती दर्जे (Step) हो सकते हैं जैसे इरादे का शौक पैदा होना मगर जब इरादा मज़बूत हो जाये तो यह मन के जोश का आख़री दर्जा है जिसके बाद काम का करना ज़रूरी हो जाता है और अगर जोश उस हद तक न पहुंचे तो काम का हो पाना मुमकिन नहीं है। मिसाल के तौर पर ये देखिए कि आपको इस वक़्त पक्का इरादा हो कि 6 बजे शाम को मैं अमीनाबाद जाऊँगा। लेकिन इस वक़्त अगर आप सो रहे हैं या जाग रहे हैं, मगर इस ख़्याल को भूले हुये हैं तो हरगिज़ आपका सुबह वाला इरादा काम के लिए उकसा नहीं पायेगा। इसी तरह अगर आप यूँही घर से निकल जायें और आंखे बन्द किये हुये इत्तेफ़ाक़ से अमीनाबाद पहुँच जायें तो ये एक बेअख़्तयारी (बेबसी) की बात समझी जायेगी। वह सुबह वाला इरादा इस काम की वजह नहीं होगा। इससे साफ़ ज़ाहिर हो गया है कि इरादा वह चीज़ है जिसकी वजह से काम अपने बस से होता है, वह वही चीज़ है जो काम से मिली हुई है। और काम से पहले इसका पाया जाना जबकि बीच में गैप (Gap) हो गया हो इस काम का कारण और इसके अख़्तयार बस से होने की वजह नहीं बन सकता।

अब ये देखिये कि 30 दिन के रोज़े जो रखे जाते है ये सब एक ही काम है या फिर अलग–अलग कई काम हैं। कोई शक नहीं कि काम की शुरू से आखिर तक लगातार होता रहता है और जब टूट गया और दोबारा शुरू हुआ तो ये काम चाहे तरीक़े और क़िस्म में पहले से एक हो मगर अपने में इससे अलग है। फिर जबकि हर रोज़े का ख़ात्मा अफ़तार पर टूट जाता है तो इन सब रोज़ो को एक काम कैसे समझा जा सकता है। बेशक इनमें से हर रोज़ा एक अलग हैसियत रखता है और उसका अपना एक अलग वजूद अस्तित्व है।

अब देखिये कि पहले रोज़े की जो नियत की थी चाहे वह सारे रोज़ो के लिए हो लेकिन पहले रोज़े से तो जुड़ी है और इस लिये इस रोज़े को पूरा करने के लिये आमादा कर सकती है। मगर बाद वाले रोज़ों के लेहाज़ से वह अलग होने की वजह से आमादा करने की सलाहियत नहीं रखती और इन रोज़ों के लिहाज़ से वह इरादा की इस मंज़िल पर है जो काम करने की वजह होती है। इसे अगर समझा जा सकता है तो इन रोज़ों का रिश्ता, इरादा और गन लेने से बस इससे ज़्यादा नहीं। अब अगर ये इरादा बाक़ी रहा और ध्यान के और लगन सारी बातें दूसरे रोज़े के मौक़े पर साबित हुये तो यही इरादे की शक्ल ले लेगा। और वह इरादा दूसरे रोज़े की नियत कहलाएगा। लेकिन अगर दूसरे रोज़े के रखने पर इसके मन में वह पहला ख़्याल न हो और ये भूल और भुलावे में हुआ तो वह इरादा

अपने वक़्त में सत्य हो चुका। अब इस वक़्त इसमें वह बात नहीं कि वही पहला इरादा इससे काम करा सके। फिर कैसे कहा जाता है कि वह इस दुसरे रोज़े के लिये भी नियत का दर्जा रखता है। ये फ़र्क़ का नतीजा दोनों तरह ज़ाहिर होता है जब एक रात शाम से कोई सोया और तीसरे दिन जागा। बीच का दिन सोने में चला गया, इसलिए नियत आज के रोज़े की नहीं हुई। लेकिन अगर वह पहली नियत जो 30 दिन के रोज़े की कर ली थी वह काम को कराने के लिए काफ़ी समझी जाये तो ये बीच वाला दिन रोज़े में जोड़ना पड़ेगा। दूसरी सूरत कि किसी दिन इसे रोज़े का ख़्याल ही न आया, बेशक इत्तेफ़ाक़ से यूंही फ़ाक़े से (खाये बग़ैर) भी रहा। और कुछ खाया पिया नहीं तो अगर पहली नियत को काफ़ी समझा जायेगा तो इस दिन रोज़ा सही माना जायेगा। बल्कि पहली नियत के काफ़ी समझने का तक़ाज़ा तो यह है कि अगर दिन भर खाता पीता भी रहे तब भी रोज़े में हिसाब होना चाहिये इसलिये कि रोज़े को तोड़ देने वाली चीज़ें जो हैं वह जानबूझ खाना ओर पीना है। जिस तरह अगर आज ही रोज़े की नियत कर चुका होता तो फिर अगर भुले से ये कुछ खा पी लेता तो रोज़ा बातिल (ग़लत) न होता। ऐसे ही अगर पहली नियत काफ़ी हो तो इस शख़्स के दिन भर खाने पीने से रोज़ा ग़लत न होता। जबकि ये बिल्कुल ग़लत है। मालूम हुआ कि पहली नियत रोज़े को सही होने के लिए काफ़ी नहीं है इसलिये एक और नतीजा निकलता है वह ये है कि अगर आप रात के किसे हिस्से में इस नियत से कि अब हम रोज़ा रखेगें और आंख न खुली और दोबारा नियत करने का मौक़ा न मिला, यहाँ तक की सुबह हो जाये, या दोपहर का दिन भी चला जाये तो रोज़ा सही होगा, क्योंकि ये पूरा ज़माना उन तमाम चीज़ों को छोड़ने के वक़्त से अफ़तार के वक़्त तक लगातार जुड़े होने की वजह से एक (अकेला) काम है और वह नियत के साथ हो रहा है जो इससे जुड़ा है। लेकिन अगर इस नियत से सोंचे कि अभी हम उठेगें और खाये पियेगें फिर रोज़ा रखेंगे और इसके बाद फिर आँख न खुली या खुली लेकिन रोज़े का ख़्याल न आया और नियत न पैदा हो यहा तक की दोपहर भी चली जाये तो ये रोज़ा गिनती में नहीं आयेगा क्योंकि वह नियत जिसके साथ वह सोया था उसी वक़्त से न था बल्कि किसी बाद के वक़्त में उठने पर खाने पीने के बाद की नियत है और वह वक़्त और मौक़ा इस नियत से अलग था और दूरी रखता था। इसलिये ये नियत काम को करने के लिए आमादा नहीं कर सकती थी और वह मौक़ा जब आया तो उस वक़्त उसने नियत नहीं हुई इसलिए नियत जो काम के सही होने के लिये ज़रूरी है वह नहीं हुई।

रोज़े के सही होने में एक ख़ास रियायत

उसूल से अगर कोई काम बहुत से हिस्सो से मिलकर बना हो या एक ख़ास मुद्दत (अवधि/Period) तक बाक़ी रहने वाला हो तो इन सब हिस्सों को करने और इस सारी मुद्दत मे काम को नियत व इरादे के साथ होना चाहिये। तभी वह काम सही होगा लेकिन एक हिस्सा (Part) भी कम हो गया या वक़्त का कोई हिस्सा भी उससे अलग हो गया तो काम को बातिल (ग़लत) हो जाना चाहिये। और अगर क़ानून में कोई ख़ास बयान इसके ख़ेलाफ़ न आये तो फ़ायदे नियम से यही होना चाहिए। मगर जिस तरह जमाअ़त की नमाज़ में ये रियायत की गई है, अगर रुकू में भी शामिल हो जाये तो एक रकअ़त हिसाब में आ जाती है और नमाज़ सही हो जाती है। इस तरह रोज़े के बारे में शरीयत ने एक ख़ास रियायत की है कि वाजिब रोज़े में अगर इन्सान ने कुछ खाया पिया न हो तो ज़वाल (दोपहर) के पहले तक नियत हो सकती है और मुस्तहब (सुन्नती) रोज़े में इससे भी ज़्यादा रियायत की गई है। यानी दोपहर के बाद भी सूरज डूबने के पहले जिस वक़्त से रोज़े का इरादा पैदा हो जाये शर्त यह है कि कुछ वह चीज़ें जो रोज़े को तोड़ देती हैं उनका उस दिन इस्तेमाल न हुआ हो तो वह रोज़ा हिसाब मे आ जायगा। ये सिर्फ़ ख़ुदा की एक दया व एहसान और इन्सान के इबादत की तरफ़दिल होने को बढ़ावा देना है। बदक़िस्मत है इन्सान अगर अब भी सवाब की नेमत के पाने की तरफ़ क़दम न बढ़ायें।

एक और रेयायत

इबादत को शुरू करने के बाद अधूरा नहीं छोड़ना चाहिये। इरशाद हुआ है *''ला तब तलू आमा–लकुम'*' हालांकि दुसरे माने भी है, लेकिन उलमा ने इससे ये नतीजा निकाला है कि काम को शुरू करने के बाद आखिर तक पहुँचाना ज़रूरी है। अगर नमाज़ का वक़्त ज़्यादा हो यानी अगर नमाज़ को तोड़ डाले

तो फिर भी वक़्त के अन्दर नमाज़ पढ़ लेगा फिर भी इतना वक़्त है कि दुबारा नमाज़ पढ़ सकता है। लकिन बिला ज़रूरत उस नमाज़ को तोड़न जायज़ नहीं है, लेकिन रोज़े के बारे में ये ख़ास रियायत रखी गई हे कि वाजिबी रोज़ा ऐसा हो जिसे बाद में भी अदा (पूरा) किया जा सकता है। जैसे रमज़ान महीने के क़ज़ा रोज़े जबकि अभी साल के दिन उन रोज़ों की गिनती से ज़्यादा बाक़ी हो या सारा दिन (निश्चित) न किए गए नज़र का रोज़ा तो ज़ोहर (यानी दोपहर) के पहले तक इन्सान उसे तोड़ सकता है।

रियायत पर रेयायत

अकसर ऐसा होता है कि शाबान की 29 तारीख को चाँद में ये शक होता है कि हुआ कि नहीं। 30 तारीख़ तक शक है शायद चांद हो गया हो तो आज रमज़ान की पहली तारीख़ है। लेकिन चांद का सबूत नही है। इसको ''यौमुश शक'' कहते है, यहाँ चूँकि रमज़ान महीने का सुबूत नहीं है और पहली हालत के बाक़ी रहने से आपका दिन शाबान महीने ही में शरीयत के हुक्म के लेहाज़ से शामिल समझा जाये इसलिये ये हक़ नहीं है कि आज का रोज़ा रमज़ान महीने की नियत से रखा जाये लेकिन अगर रोज़ा छोड़ दे तो माहे रमज़ान के इस एक रोज़े की ख़ास बरकत से महरूम (वन्चित) रह गया। दूसरे ये कि बाद में क़ज़ा करना पड़ेगी जो जी पर बहुत दूभर हो जाता है। और बिला वजह ऐसा होना भी नहीं चाहिए। इसलिये ये सूरत रखी गई है कि बेहतर है कि आज का रोज़ा ''मुस्तहब'' की नियत से रख ले फिर अगर मालूम हुआ कि ये दिन रमज़ान महीने का था तो वह रोज़ा इसी हिसाब में आ जायेगा। और फिर क़ज़ा की ज़रूरत न होगी। यह भी ख़ुदा की एक दया और एहसान है वरना उसूल से जब वह शाबान महीने की नियत से रखा या तो इसको माहे रमज़ान में आने की वजह क्या है? मगर वह तो नियत के अन्दर के ज़मीर (अन्तः करण) की गहराई को भी देखता है। इसे मालूम है कि इसने ''मुस्तहब'' (सुन्नत) की नियत सिर्फ़ इसलिये की है कि इसके जानकारी के सीमित ज़रिये से चाँद साबित नहीं हुआ लेकिन असल में इसका रोज़ा रखना आज सिर्फ़ इस बरकत को हासिल करने और इस फ़र्ज़ को नज़र अन्दाज़ न होने के लिये है जो रमज़ान महीने के रोज़े की शक्ल में इस पर लागू है इसलिये वह इस नियत के अन्दुरूनी जज़्बे पर सवाब देने के लिये तैयार है और इस रोज़े को रमज़ान महीने में हिसाब कर लेता है।

रोज़े को छोड़ने का कफ्फारा

एक दिन भी रोज़ा अगर जान बुझकर छोड़ दे तो कफ़्फ़ारा वाजिब है। साठ मिस्कीनों (ग़रीब जिनका खाना पानी पूरा न पड़ता हो मगर भीख मांगते हों) को खाना खिलाना या दो महिनों के लगातार रोज़े रखना या गुलाम ख़ुदा की राह में आज़ाद करना।

आज जबकि गुलाम बेचने का क़ानून नहीं है तो पहली दो सूरते बचती है, मगर याद रखना चाहिये कि कफ़्फ़ारा एक जुर्माना है जिसका अदा करना (दे देना) इन्सान के लिये ज़रूरी है। लेकिन इसके ये माने नहीं कि छूटे हुये रोज़े के कफ़्फ़ारे के अदा करने के बाद जुर्म बाक़ी नहीं रहा। वह गुनाह जो रोज़ा छोड़ने का हो गया बहरहाल गुनाह है। और इसके लिये तौबा की ज़रूरत है। मतलब ये है कि ऐसा न हो कि कोई पैसे वाला अपना यही तरीक़ा बना ले कि रोज़ा छोड़ दिया करे और हर रोज़े के बदले साठ मिस्किनों को खाना खिला दिया करें। ये काम इसका हरगिज़ सही नहीं है और वह रोज़े को बिलावजह छोड़ने की वजह से आख़िरत के अज़ाब से बच नहीं सकता, जिस तरह अगर हराम काम के साथ इन्सान रोज़े को छोड़ दे। मसलन रमज़ान महीने के रोज़े के बजाये मआज़ल्लाह वह शराब पिये। या नाजायज़ तौर पर औरत से ताल्लुक़ करे, तो ऐसे के लिये तीनों कुफ़्फ़ारे एक साथ देना ज़रूरी है। मगर इससे न इस हराम काम का हराम होना दूर होगा और न रोज़े को छोड़ने की अहमियत। बेशक अगर ये कफ़्फ़ारा भी न दे तो यह एक तीसरा जुर्म होगा। इस गुनाह से बचने के लिये अक़ली तौर पर कुफ़्फ़ारा दे देना लाज़िम है।

सच्चाई यह है कि ये वाजिब चीज़ों जिसमें ख़ास वक़्त की शर्त है और जिनकी क़ज़ा का बाद में हुक्म है उनमें एक मक़सद तो अस्ल कर्म का पूरा करना है दूसरा मक़सद उनका उस ख़ास वक़्त में करना है। अगर ऐसा न होता और अस्ल मक़सद सिर्फ़ काम का कर लेना होता तो वाजिब में ख़ास वक़्त के साथ हुक्म ही न होता बल्कि चाहे जिस वक़्त कर लेने का ही हुक्म होता। और अगर सिर्फ़ एक ख़ास वक़्त में उसका होना मक़सद होता तो फिर वक़्त गुज़रने के

बाद उसकी क़ज़ा का हुक्म न होता। लेकिन दो मक़सद अलग–अलग हैं। इसलिये अगर अस्ल वक़्त पर न कर पाये तो गुनाहगार होगा इसलिये कि वक़्त की अहमियत हाथ से चली गई लेकिन फिर भी हुक्म है कि इसके दुसरे वक़्त में करे ताकि वह दुसरा मक़सद यानी अस्ल काम तो पूरा हो जाये। अगर इसने बाद में इस काम को नहीं किया तो ये दूसरा गुनाह होगा। यूहीं जिस जगह कफ़्फ़ारा का हुक्म है ये एक तीसरा मक़सद है और वह यह है कि इस जुर्म का एक बदला (पश्चाताप) वह इस दुनिया में भी दे दे लेकिन न इससे उस खास वक़्त में होने का मक़सद पूरा होता है ताकि वह गुनाह दूर हो। न अस्ल काम कर पाता है जिससे क़ज़ा की ज़रूरत न हो बल्कि इस कफ़्फ़ारे के अदा करने के साथ अस्ल अ़मल को अन्जाम देने के लिये क़ज़ा भी ज़रूरी है और वक़्त पर न करने के गुनाह के लिये सच्चे दिल से तौबा की भी जरूरत है इसके साथ फिर वह कफ़्फ़ारा भी अदा करे तो इन्शाअल्लाह फिर अख़िरत में कोई पूछ–ताछ न होगी।

इस हुक्म के बारे में कि इस क़ज़ा व कफ़्फ़ारे से असल वक़्त की जो जा चुका है फिर नहीं मिल सकता और इसलिये इन्सान को इस पर पहतावे की ज़रूरत है। मासूम[अ0] भी हदीस भी मौजूद है, ग़ौर कीजिए समा बिन महरान की रवायत, इनका बयान है कि मैने मासूम अ0 से पूछा कि उसके बारे में जो रमज़ान महीने में जानबुझकर अपनी औरत से मिलन करें, हज़रत अ0 ने फ़रमाया इसका कफ़्फ़ारा है गुलाम आज़ाद करना और साठ मिस्कीनों को खाना खिलाना और दो महीने के लगातार रोज़े रखना। इसके अलावा उस दिन की क़ज़ा भी ज़रूरी है और भला वह दिन अब कहाँ नसीब? इस से ज़ाहिर है कि इस दिन रोज़ा रखने से जो मक़सद था वह अब नहीं मिल सकता, इसलिये ये नहीं समझना चाहिये कि ये क़ज़ा व कुफ़्फ़ारा इसका पूरा–पूरा बदल हो गया।

हमारे वालिद की तक़लीद करने वाले (फ़तवे पर चलने वाले) एक अमीर साहब ने यह पूछने के बाद कि एक रोज़े का कफ़्फ़ारा जो होता है अपना दस्तूर (नियति) बना लिया और वह रमज़ान के रोज़े को छोड़ दें और फिर साठ आदमियों को खाना खिला दिया करें, इस पर जनाब ने इस सवाल का विस्तार पूर्वक जवाब लिखा जो यहाँ बयान किया जा रहा है।

सवाल

अगर कोई आदमी रमज़ान महीने का रोज़ा बिना किसी शरीयत में जायज़ वजह से जान बूझकर न रखे, यह ख़्याल करके कि एक रोज़े का क़ज़ा या कफ़्फ़ारा दे दूंगा, ये काम इसका जायज़ है या नाजायज़? और वह आदमी हमेशा ऐसा ही करे कि रमज़ान का रोज़ा बिला वजह जानबूझकर न रखे और क़ज़ा कफ़्फ़ारा को अदा कर दिया करे तो गुनहगार होगा या नहीं और क़ज़ा व कफ़्फ़ारा रमज़ान के रोज़ों के लिए काफ़ी (पूरक) हो जायेगा या नहीं। जवाब विस्तार पूर्वक दें?

जवाब

ये बात छिपी न रहे कि शरीयत में वाजिब कई तरह का है, सब वाजिब की क़िस्मों में जो हमारे लिये बहस का टॉपिक/विषय है वह वाजिब ऐनी और वाजिबे तख़इरी है। वाजिबे ऐनी और तख़इरी में फ़र्क़ यह है कि वाजिबे ऐनी वह वाजिब है जिसका बदल और जिसकी मसलहत को पूरा करने वाला कोई दूसरा काम नहीं होता। लेकिन वाजिब तख़ईरी में उस मसलहत के पूरा करने वाले जो इस वाजिब में शरियत की नज़र में है, दो काम या ज़्यादा होते हैं। मसलन नमाज़ जुमा और ज़ोहर की नमाज़ अगर वाजिबे तख़ईरी के क़ायल हो तो नमाज़ जुमा और नमाज़ ज़ोहर इस मसलहत के लिये जो शरीयत की नज़र में है काफ़ी हैं। इसका नतीजा ये है कि वाजिबे तख़इरी में काम करने वाले को शरीयत की तरफ़ से अख़्तियार (चुनाव) दिया जाता है कि वह चाहे इस काम को करे चाहे दूसरे काम को (यानि चाहे नमाज़े जुमा पढ़े या नमोज़े ज़ोहर), मगर वाजिब ऐनी में दो कामों या ज़यादा में अख़्तियार नहीं होता बल्कि खुद इस काम का करना ज़रूरी होता है। हाँ ये और बात है कि अगर शरियत की नज़र में इस काम को अंजाम देने से मजबूर हो या नुक़्सान के डर वग़ैरह की वजह से तो दूसरा काम मजबूरी या बेबसी की हालत में इसका बदल रखा जाएगा जैसे तैयम्मुम मजबूरी या नाचारी की हालत में वज़ू का बदल है।

नमाज़, रोज़ा वाजिबे ऐनी में से हैं, इसलिए कोई दुसरा काम इस मक़सद को पूरा करने वाला नहीं समझा जा सकता, इसलिये अगर कोई आदमी रोज़ा

और नमाज़ छोड़ दे तो चाहे बाद में क़ज़ा भी कर ले या रोज़ा जानबूझ कर बिला वजह या फिर बिना किसी शरीयत में जायज़ वजह के छोड़ कर कफ़्फ़ारा या सिर्फ़ क़ज़ा, छोड़े गये रोज़े या नमाज़ के फ़ायदे को पूरा नहीं कर सकता और इससे अस्ल काम को इस वक़्त के छोड़ने का गुनाह ख़त्म नहीं हो सकता जब तक कि वह तौबा न कर ले। इसी तरह अगर तौबा के बाद तलाफ़ी माफ़ात (जो मिहगया या छूट गया उसकी भरपाई) न करे और क़ज़ा व कफ़्फ़ारा या क़ज़ा रोज़ा या नमाज़ के छोड़ने के बाद न करें तो सिर्फ़ तौबा काफ़ी नहीं। अगर क़ज़ा व कफ़्फ़ारा रोज़ा मे या खाली क़ज़ा नमाज़ में इस इबादत के फ़ायदे को पूरा कर दे तो नमाज़ रोज़ा वाजिब ऐनी न रहेगा बल्कि वाजिब तख़इरी हो जायेगा और ये एक राय से बातिल (ग़लत) है।

ये ख़्याल कि छोड़े गये रोज़े और नमाज़ के बाद जो हुक्म था वह कर लिया यानी छोड़े गये रोज़े में क़ज़ा कफ़्फ़ारा और छोड़ी गई नमाज़ में क़ज़ा कर लिया गया तो अब सज़ा क्यों हो और अगर सज़ा बहरहाल मिलना है तो फिर क़ज़ा व कफ़्फ़ारा से क्या फ़ायदा, ये सोचना सही नहीं है क्योंकि हमारा फ़िरक़ा ''इसना अशरी'' यह मानता है कि शरीयत के हुक्मों में कोई न कोई मसलहत (सम्मति) और मक़सद छुपा होता है। बेशक कभी मसलहत काम में होती है और वक़्त और जगह का की बात नहीं होती और कुछ काम ऐसे है जिनमें वक़्त या जगह का ख़ास ख़याल रखना ज़रूरी होता है।

रोज़ाना की नमाज़ और रमज़ान मुबारक के रोज़े ऐसे ही वाजिब हैं जिनमें वक़्त को हाथ है। रमज़ान महीने के रोज़े और मसलन नमाज़ ज़ोहर के छोड़ने के बाद वह खास वक़्त हाथ नहीं आ सकता। इसलिए इस खास वक़्त की अहमियत के हाथ से चले जाने पर अगर क़ज़ा व कफ़्फ़ारा के बाद या सिर्फ़ क़ज़ा के बाद गुनाह बाक़ी रहे तो कोई अजीब बात नहीं है। अब रह गयी यह बात कि जब गुनाह बाक़ी रहता है तो क़ज़ा व कफ़्फ़ारा का हुक्म क्यों हुआ? इसका जवाब यह है कि क़ज़ा व कफ़्फ़ारा के बाद रोज़ा और नमाज़ के वक़्त की क़ैद (बन्धन) के साथ मक़सद नहीं मिलता मगर असल काम का मक़सद मिल सकता है। इसलिये इतनी सज़ा कि जो असल अ़मल के बिल्कुल (ख़त्म हो जाने) होने की शक्ल में होती है, मुमकिन है कि इस कफ़्फ़ारे के बाद न हो।

दूसरी फ़रार (लाग) यह है कि रोज़ाना की नमाज़ और रमज़ान के रोज़े की चाही गयी है यानी नमाज़ ज़ोहर मसलन और रोज़ा रमज़ान में धर्म शरीयत चाहती है सिर्फ असल काम नहीं है बल्कि असल काम का करना एक चाह है। और दूसरा मतलब ये है कि ये काम वक़्त में वाक़्ये हो इसलिए बाद क़ज़ा नमाज़ रोज़े के तदारक (बदल चाह) पहले चाह यानी असल काम के छोड़ने का हो जाता है। इसलिए इसकी सज़ा, न होगी मगर दुसरा मतलब यानी इस काम का साझ में ज़ाहिर होना इसका तदारक नहीं होता, इसलिए क़ज़ा व कफ़्फ़ारा के होते हुए रोज़े के वक़्त पर अदा न होने की सज़ा बाक़ी रहेगी। इसके लिये तौबा की ज़रूरत है।

इसलिए पांचों वक़्त की नमाज़ में से किसी भी नमाज़ को छोड़ना या विलावजह रोज़े को छोड़ना अगर इस इरादे से हो कि बाद में क़ज़ा या कफ़्फ़ारा अदा कर लेगा तो हराम है और सिर्फ़ क़ज़ा नमाज़ में या क़ज़ा के साथ कफ़्फ़ारा रोज़े में इस गुनाह के दूर करने की वजह नहीं बन सकता बल्कि इस तरह सूरत अख़्तियार कर लेना और क़ज़ा व कफ़्फ़ारा को इस इरादे से अदा करना कि यह अस्ल अ़मल का एक मुस्तक़िल Regular/नियमित बदल है, ये बिदअ़त (मज़हब में नया करना) है। और जैसा कि कुछ ओलेमा के मसलों के जवाब में और कहने में ये है कि बिला वजह यानि बिना किसी शरयी वजह के रोज़े को छोड़ने पर क़ज़ा और कफ़्फ़ारा के बाद अ़ज़ाब नहीं है ये उसी वक़्त होगा जब क़ज़ा व कफ़्फ़ारा 'तौबा' के बाद अन्जाम दिया जाए।

रोज़े से जुड़े इस्लाम के शुरू के दो वाक़्ये

इताअत (आज्ञापालन) और नाफ़रमानी के नतीजे का एक–एक नमूना

रोज़े के बारे में इस्लाम के इतिहास (History) में दो याद रखने वाले वाक़्यें हैं। जिनमें इन्सान की इताअ़त और नाफ़रमानी के आपस में टकराते दो अलग–अलग नमूने सामने आते है जिनका नतीजा हमेशा के लिये याद रखने को शरीयत के हुक्मों में बाक़ी है। यह है कि इस्लाम में शुरू में ये हुक्म था कि अगर कोई रोज़े के बाद कुछ खाना खाये बग़ैर

शाम को सो जाये तो फिर सो जाने के बाद कुछ खाना पीना हराम था। इत्तेफ़ाक़ से ख़न्दक़ (गड्ढ़ा/खाईं) की लड़ाई रमज़ान महीने में हुई। पैग़म्बर[स०] ने हुक्म दिया कि सहाबाए[रज़ी०] ख़न्दक़ खोदने में लग जायें। अरब की धूप और पथरीली ज़मीन दिन भर रोज़े की हालत में ख़न्दक़ का खोदना। रसूल[स०] का एक बूढ़ा सहाबी जिसका नाम रवायतों में अलग–अलग मिलता है। अबुनसीर मुरादी की रवायत जो इमाम मोहम्मद बाक़िर[अ०] और इमाम जाफ़र सादिक़[अ०] से है इसमें ख़वात बिन जबीर अंसारी और तफ़सीर नुमानी में अमीरूलमोमिनीन[अ०] की रवायत (दोहराना) से मुतयिम बिन जबीर नाम मिलता है। वह ख़न्दक़ खोदने के बाद अफ़्तार के वक़्त थके मांदे अपने खैमें में आये अपनी बीबी से पूछा कि कुछ खाना है? उसने कहा ठहरो! सोना नहीं। मैं अभी खाना लेकर आती हूँ। ये बेचारे दीवार से लगकर बैठ गये। इत्तेफ़ाक़ से नींद आ गयी। बीवी खाना लेकर आयी और जगाया तो कहाः "अब मेरे लिए कुछ खाना हराम है। मैं सो गया था।" रात यूँ ही गुज़र गयी। सुबह को रोज़े पर रोज़ा रखा और ख़न्दक़ खोदने के लिए आ गये। पर कमज़ोरी से निढ़ाल होकर बेहोश हो गये।

रसूल[स०] ने हालत देखी तो वाक़िया पूछा इस पर आयत उतरीः "खाओ और पियो उस वक़्त तक जब तक सुब्ह की सफ़ेद लकीर रात की काली लकीर से उभरे।" अब इस आयत की वजह से पहला हुक्म ख़त्म हो गया और ये क़ानून हो गया कि रात को सो भी जाओ तो सुबह सादिक़ (सेहरी का आख़िरी वक़्त) तक खा पी सकते हो। ये उस यह उसी अनोखी (Extra ordinary) तरह जमे रहने और अडिग ठहराव और खुदा के हुक्म पर चलने के रास्ते में कठिनाई और कड़ाई सहने का नतीजा था कि शरीअत ने हमेशा के लिए आसानी कर दी। अब इसी मौक़े का दूसरा नमूना पेश है। ये भी हुक्म था कि रमज़ान महीने में रात के वक़्त भी औरतों के पास जाना जायज़ नहीं। कुछ लोगों ने इसके ख़िलाफ़ काम किया तो इस हुक्म को भी ख़त्म कर दिया गया और आयत आई *"अहल–ल–कुम लैलतस्सया–मल–रफ़सा इला निसाएकुम"*

"हलाल किया गया तुम्हारे लिये रोज़े की रात में अपनी औरतों के पास जाना"। तफ़सीर नुमानी में है " मुसलमानों में कुछ जवान थे जो इस हुक्म को बर्दाश्त न करके रातों को छिपकर अपनी औरतों से मिला करते थे। इस बारे में पैग़म्बर[स०] ने अल्लाह से सवाल किया तो ये आयत उतरी।" ये अजीब बात है कि शिया रवायत में इस बारे में इतनी ही बात बयान की गई है मगर सुन्नी मुफस्सिरों (क़ुर्आन के माने मतलब बयान करने वाले उलमा) ने इस आयत की शान में साफ़ परदा उठा दिया और नाम भी बता दिया है कि ये किसके बारे में नाज़िल हुई (उतरी) है। देखिए इस्तीआब हैदराबाद की छपी जिल्द–1 पेज नं0 334" हरमाह बिन अन्स के हालत में लिखा है"

"यह (आयत) उमर बिन खत्ताब के कारण से उतरी है।"

सवाइक़े महर्रक़ा मिस्र की छपी पेज नं 60 में भी इसका खोलकर बयान है कि हुक्म ख़त्म हुआ था उस इताअ़त (खुदा के हुक्म पर चलने) से भी और एक हुक्म ख़त्म हुआ इस अवज्ञा/न चलने से भी। मगर यहाँ जिस तरह डाँट डपट के कोड़े लगाये गये है वह एक ग़ैरतदार (शलील) के लिये बहुत बड़ी चीज़ है।

आयत है *"अल्–लमल्–लाहु अन्नकुम तख़तानू–न अनफुसकुम फ़ताबा अलैकुम व अफ़ा अ़न्कुम फ़ल आना बाश्रूहुन्ना"*

"अल्लाह को मालूम है कि तुम लोग अपने नफ़्सों (जी जान) की ख़्यानत (घपला) करते रहते थे, अब खुदा ने तुम्हारी तौबा कुबूल स्वीकार की और माफ़ कर दिया और अब तुम उनसे रात के वक़्त रिश्ता रख (मिल) सकते हो"। ये माफ़ी इताअ़त (अल्लाह के हुक्म पर चलने) को पूरा न करने का सर्टिफिकेट है। जिस तरह पहले वाक़्ये में कामयाबी का इनाम था नतीजा एक ही है और उसकी बुनियाद मज़बूत है। मगर इसके साथ पैग़म्बर[स०] के असहाब के अलग–अलग किरदार की यादगार बाक़ी है।

रोज़े के फ़र्ज़ (कत्तर्व्य) के साथ ग़रीबों का पालन–पोसन

रोज़ा खुदा की तरफ़ से एक निजी फ़र्ज़ है, जिसका मक़सद ज्ञान का पाक है, मगर इसके साथ शरीयत ने रोज़ा अफ़्तार के फ़ायदे बयान करके ग़रीबों के पेट भरने का भी सामान किया है। ये फ़ायदे इतने ज़्यादा हैं कि मुर्दा दिल इन्सान का भी दिल चाहने लगता है कि इस सवाब को हासिल करे और फिर इसमें इतना ज़्यादा फैलाव किया गया है कि हर

ग़रीब इस को हासिल कर सकता है।
देखिये–
1. हज़रत रसूल[स०] का इरशाद (सुन्कयन)–

जो आदमी इस महीने में किसी रोज़ेदार का रोज़ा खुलवाये उसको खुदा के यहाँ ये सवाब मिलेगा कि जैसे उसने गुलाम को राहे खुदा के लिए में आज़ाद किया और उसके पिछले गुनाहों को माफ़ किया जायेगा।"

किसी ने कहा या रसूल[स०] हर आदमी हम में से इतनी हैसियत नहीं रखता कि किसी का रोज़ा खुलवाये। हज़रत ने फ़रमाया कि "ख़ुदा करीम (महान–दयालु) है वह ये सवाब उसको देगा जो सिर्फ़ एक ज़रा से दूध या ठण्डे पानी या कुछ खजूरों से किसी का रोज़ा खुलवा दे जबकि इससे ज़्यादा न कर सकता हो।"

2. इमाम मोहम्मद बाक़िर[अ०] की रवायत है कि " जो किसी मोमिन का रोज़ा खुलवाये उसे उतना ही सवाब मिलेगा जो खुद रोज़ा रखने का सवाब है।"

3. इमाम मूसा काज़िम[अ०] की रवायत है कि " तुम्हारे अपने मोमिन भाई के रोज़े को खुलवाना खुद तुम्हारे रोज़े के सवाब से ज़्यादा है।"

4. इमाम जाफ़र सादिक़[अ०] का इरषाद है कि "तुम्हारा अपेन मोमिन भाई का रोज़ा खुलवाना और उसके दिल को खुश करना खुद तुम्हारे रोज़े से ज़्यादा सवाब रखता है।"

5. इमाम मोहम्मद बाक़िर[अ०] की रवायत है "एक मोमिन का रोज़ा अपने घर में बुलाकर खुलवा दो (ये चीज़) मुझको इस बात से ज़्यादा पसन्द है कि मैं इतने इतने आदमी इस्माइल की औलाद (सन्तान) में से आज़ाद कर देता।"

और भी रवायतें अफ़तार कराने के सवाब में है मगर ये हदीसें मैने इस लिये बयान की हैं कि इनमें से कुछ ख़ास नतीजे तक पहुँचता हूँ जो नीचे लिखे जा रहे है।

पहली हदीस

इससे ये साबित होता है कि रोज़ा अफ़तार कराने का सवाब इतना सस्ता नहीं है कि जो हर कोई सिर्फ़ एक दाना ख़जूर या थोड़े से पानी से पा जाये, बल्कि उन लोगों के लिये जो पैसे वाले हैं उनके लिए इतनी मेक़दार (Quantity) काफ़ी नहीं है। उन्हें अफ़तार में अपनी हैसियत के मुताबिक़ खाना खिलाना चाहिये। ये सिर्फ़ उन लोगों के लिये है जो सिर्फ़ इतनी ही हैसियत रखते हैं और हक़ीक़त यह है कि एक ग़रीब और मोहताज (दरिद्र) फ़ाक़ा करने वाले के लिये कभी–कभी एक दाना खजूर इससे ज़्यादा अहमियत रखता है जितनी कि एक अमीर के लिये पूरे इंतेजाम के साथ खाना। ये खुदा की बड़ी दया है कि उनके लिये जिनका हौसला खुदा के पैदा किये हुओं (सृष्टि) की सेवा के लिये ऊँचा है मगर इनकी हैसियत की चादर उनके लिये आरजुओं के पूरे होने की गुन्जाइश नहीं रखती। खुदा ने इनके लिये इनकी नियत के खारेपन और ज़मीर (दिल) की सच्चाई की क़द्र करते हुए इतनी ज़्यादा गुंजाइश पैदा की है कि उनसे जो कुछ भी मुम्किन हो सके उससे पीछे न हटें। उन्हें वही सवाब मिल जायेगा जो एक मालदार और हैसियत वाले इन्सान को अपनी हैसियत के मुताबिक़ रोज़ा अफ़तार कराने में मिलेगा। मगर इसके यह मानी नहीं कि यही फ़ैशन बना लिया जाये कि रमज़ान महीने में एक ख़जूर दिया और अपने नज़दीक रोज़ा अफ़तार कराने के सवाब के हक़दार बन गये। ऐसे लोग जो ज़्यादा हैसियत रखते हैं, इस एक छुहारे को दे देने से हरगिज़ इस सवाब के हक़दार नहीं हो सकते जो मोमेनों का रोज़ा अफ़तार कराने के लिए खुदा ने रखा है।

दूसरी और तीसरी रवायत

ये है कि तुम्हारा रोज़ा खुलवाना सवाब में खुद तुम्हारे रोज़ा रखने के बराबर या इससे बढ़ा हुआ है। इसका मतलब मुस्तहब रोज़ा है, क्योंकि सवाब की बराबरी कही जा रहा है, इसलिये इसका नतीजा वही ज़ाहिर हो सकता हे जहाँ कि सिर्फ़ सवाब का सवाल सामने हो। ये नही समझना चाहिये कि वाजिब रोज़े के बजाय अगर किसी मोमिन का रोज़ा खुलवा दिया तो सवाब वही मिल गया इसलिउ रोज़े की ज़रूरत न रही। ये ख़्याल ग़लत है, इसलिये कि वाजिबी रोज़े में सिर्फ़ सवाब नहीं है बल्कि इसके छोड़ने में सज़ा भी है। और इसका बदला दूसरे का रोज़ा खुलवाने से नहीं होगा। बेशक इस रवायत का नतीजा ये हो सकता है कि अगर इन्सान के लिये किसी वजह से दो सूरते सामने हो कि वह खुद सुन्नती रोज़ा रखे और अपने रोज़े की अफ़तारी का सामान इकट्ठा करे तो खुद रोज़ा न रखे और किसी दूसरे मोमिन के रोज़ा खोलने का सामान इकट्ठा कर दे तो इसके लिये दूसरी सूरत

(बक़िया पेज नं0 13 पर.............)

यानी स्थानीय थाने में जाकर हालत की रिपोर्ट कर दी, प्रथम सूचना दे दी।''

यह तो वो वाक़िया है जहां बेटी की जान गयी। लेकिन हिन्दोस्तान में न जाने कितने मां बाप हैं, जो इस मुसीबत का शिकार होकर अपनी तनदुरूस्ती को बरबाद कर रहे हैं, और अक्सर ज़ेहनी घुटन और अमराज़–ए–क़ल्ब या बहुधा मानसिक क्लेष और हृदय रोग का शिकार हो के मौत के मंह का निवाला बन रहे हैं।,

इस्लाम शायद किसी हद तक कुफ्र को (अनीश्वरवाद को) मोहलत दे दे, जहां कुर्फ हो मगर ज़ुल्म न हो, अनीश्वरवाद हो मगर अत्याचार न हो लेकिन इस्लामी तारीख़ इस्लाम का इतिहास यह है कि इस्लाम के रहनुमाओं ने ख़ल्क़–ए–खुदा पर (ईश्वरीय सृष्टि पर) ज़ुल्म को एक मिनट के लिए बर्दाश्त नहीं किया, चाहे यह ज़ुल्म करने वाला मुसलमान ही क्यों न हो। मुझे यक़ीन है निश्चित रूप से विश्वास है कि हुज़ूर–ए–करीम स0 हमारे पैग़म्बर या उनके अहलेबैत (परिजनों) में से अगर कोई ज़ाहिर बज़ाहिर (खुलेआम) मौजूद होते, और खुदा न ख़ास्ता इस लानत (अभिशाप) को समाज से मिटाने में उनकी नसीहत और उपदेश कारगर न होते, तो वो ऐसे अत्याचारियों के साथ यक़ीनन (निश्चित ही) लोहा ले लेते।

इस्लाम में जहेज़ फ़राहम करना उसको जुटाना होने वाले पति का फ़रीज़ा और कर्तव्य है, लड़की या उसके मां बाप का नहीं। लड़की वालों से जहेज़ मांगना शरीअत–ए–इस्लामी (इस्लामी धर्म शास्त्र) के परख़चे उड़ाना है।

मैं मुल्क के सभी धर्माचार्यों, काज़ी साहबान और निकाह पढ़ने वाले साहबान से दरख़ास्त करूंगा कि उस वक़्त तक कहीं निकाह पढ़ने का वादा न करें जब तक यह इत्मीनान और सुनिश्चित न हो जाय कि लड़के वालों की तरफ़ से लड़की वालों से जहेज़ का मुतालबा नहीं किया गया है (मांग नहीं रखी गयी है) उसी के साथ मैं लड़की वालों से भी दरख़ास्त करूंगा (प्रार्थना करूंगा) कि अगर वो कोई चीज़ अपनी लड़की को अज़ खुद (अपने आप, तोहफे (उपहार) में देना चाहें तो उसे चुपके से दे दें, शादी की महफ़िल में उसकी नुमाइश और दिखावा न किया करें। यह नुमाइश इस कठोर मसले का उलझावा और बढ़ा देती है।



(पेज नं0 10 का बक़िया..........)

का अपनाना कम से कम पहली सूरत के बराबर या इससे अफ़ज़ल है या बिल्कुल शरीयत के क़ानून के मुताबिक़ है। जिस्मानी इबादत से बेशक समाजी इबादत याने खुदा की मख़लूक़ (पैदा किये) को फ़ायदा पहुँचाने का सवाब ज़्यादा है और इस वजह से रवायत में कही गई बात बिल्कुल शरीयत के मुताबिक़ है।

चौथी रवायत

इसमें रोज़े के इफ़्तार की फ़ज़ीलत बयान करते हुए ये है कि तुम्हारा मोमिन भाई के रोज़े का खुलवाना और इसके दिल को खुश करना खुद तुम्हारे रोज़े से अफ़ज़ल है।''

इस रवायत से और शरीयत के दूसरे आम क़ानूनी की बुनियाद पर ये नतीजा निकलता है कि रोज़ेदार को इफ़्तार कराने का ये सवाब इस सूरत में है कि जब वह मोमिन इसको पसन्द करता हो और इससे इस के दिल को खुशी मिलती हो, लेकिन अगर इससे उसका दिल दुखता है और चाहे न चाहे ज़िद करके और बार–बार कह करके उसे रोज़ा इफ़्तार करने पर मजबूर किया गया है तो इसमें सवाब नहीं होगा। कुछ लोग यूँही रोज़ा खोलने के लिए बार–बार कहते हैं और रोज़ा न खोलने पर बिगड़ जाते हैं। इनका यह तरीक़ा सही नहीं है।

पाँचवी रवायत

इसमें इफ़्तार की फज़ीलत में यह शर्त (बन्धन) है कि '' अपने घर पर बुला कर इफ़्तार कराये। अब अगर इस उसूल पर काम किया जाये तो अगर एक जगह बस आम बात हो और दूसरी जगह किसी चीज़ की क़ैद (बन्धन) लगाई गई हो तो आम बात को भी समझा जाए। तो इसका नतीजा ये है कि अफ़तार की फ़ज़ीलत इस बात पर निर्भर हो कि जब अपने घर पर बुलाकर अफ़्तार कराया जाये, लेकिन चूंकि मुस्तहब बातों में उलमा ने इस उसूल को लागू नहीं किया है और इनका नज़रिया इस बारे में सही है। बल्कि यहाँ आम बात और लगी बन्धी अलग–अलग फ़ज़ीलत के मर्तबे के फ़र्क़ पर रखे जाते हैं। तो इसका नतीजा ये होता है कि ज़्यादा सवाब इसी में है कि अपने घर पर बुला कर इफ़्तार कराया जाए और इससे कम सवाब इसमें है कि किसी को आप कुछ अफ़तारी के तौर पर दे दिजीये कि अपने घर पर या जहाँ चाहे इफ़्तार कर लें। **(जारी.....)**

